

विद्यापति : एक भक्त कवि

पिछले कई वर्षों से स्नातकोत्तर कक्षाओं को हिन्दी साहित्य के आदिकाल का अध्यापन करते हुए अनेक महत्वपूर्ण समस्याएं सामने आईं। उनमें से एक महत्वपूर्ण प्रश्न कविवर विद्यापति के सम्बन्ध में उठा और वह यह कि विद्यापति एक उत्तान शृंगार लिखने वाले कवि हैं जिन्होंने अपने पदों के सृजन में जो वर्णन किया है उसे पढ़कर कोई भी आलोचक उन्हें घोर शृंगारी कवि कहने में ही परम संतोष का अनुभव करता है। विद्यापति पढ़ाते हुए मुझे भी यही लगा कि विद्यापति के पद पढ़ाते समय अध्यापक स्वयं एक विचित्र स्थिति और संकट का अनुभव करता है, क्योंकि वह विशुद्ध रूप से साहित्य का अध्यापक है किसी काम भाव (सैक्स) अथवा काम सूत्रों को पढ़ाने वाला अध्येता नहीं है। विद्यापति के पदों का रचना-विषय (कान्टेंट) निश्चित रूप से अध्यापक को एक अपूर्व संकोच में डाल देता है और वह जैसे जैसे उन पदों का अभिधार्थ कहकर अपना कर्तव्य पूरा कर देता है।

दूसरी ओर विद्यापति में कविकर्म और सृजन के ऐसे मर्म भी मिलते हैं कि उनकी कृतियां उन्हें मिथिला का अमर कवि बनने का गौरव प्रदान किए हुए है। साथ ही साथ उनकी नचारियां और अन्य पद पढ़कर यह बात सहज ही उठती है कि भक्ति और शृंगार जैसे विरोधी भावों को काव्य का विषय बनाकर विद्यापति एक ठोस व्यक्तित्व की छाप छोड़ गए हैं तो यह भी बात समझ में आने लगती है कि विद्यापति के काव्यों का सम्यक् अध्ययन कदाचित् अद्यावधि नहीं हो पाया है और यही कारण है कि विद्यापति जैसी सम्पन्न कृति को आलोचकों ने घोर शृंगारी कहकर एक ओर रख दिया है। इस समस्त पृष्ठ भूमि को ध्यान में रखकर हमने विद्यापति के मूल्यांकन पर कई दृष्टियों से विचार किया और इस समस्त अध्ययन का फल यह निकला कि उनके व्यक्तित्व का एक विशिष्ट पहलू स्पष्ट हुआ जिसे हम इस निबन्ध के रूप में विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करने का साहस कर रहे हैं। विद्यापति को किसी पूर्वाग्रह से मुक्त होकर न सोचने वाले आलोचक हमारे इस कथ्य पर नाक भौं सिकोड़ सकते हैं परन्तु इन मतभेदों को हम पाठकों के निर्णय पर छोड़ अपनी बात खुलकर कहना चाहेंगे ताकि विद्यापति जैसे अमर कवि का एक मौलिक एवं दिव्य व्यक्तित्व सामने आसके जो आज तक धूमयित बनाकर उपेक्षा प्राप्त कर दिया गया। आशा है विद्वान बिना किसी पूर्वाग्रह के हमारी बात वैसी ही समझकर उसे अन्यथा न लेने की कृपा करेंगे।

मिथिला का गर्व गौरव चिर स्मृतव्य है। अत्यन्त प्राचीन गौरव भूमि मिथिला एक और राजर्षि जनक की जन्म भूमि है, (जिसके पास स्वयं शुकदेव जैसे महापंडित ज्ञान प्राप्त करने आए थे और कहते हैं जिसका एक हाथ स्त्री के वक्ष पर और दूसरा जलती अग्नि में रहता था) तो दूसरी ओर मिथिला को

जगज्जननी सीता जैसी महिमामयी नारी को जन्म देने का श्रेय प्राप्त है। मैथिल कौकिल विद्यापति इसी पुण्यशीला धरती के प्राणवान कवि थे।

विद्यापति को लेकर हिन्दी साहित्य के अनेक विद्वानों ने अनेक प्रश्न खड़े किए हैं, जिनमें कई महत्वपूर्ण ज्ञातव्य उनकी जन्म भूमि, समय, स्थान आदि बातों के विषय में हैं। महाकवि कालिदास की भांति मैथिल कौकिल विद्यापति भी एक ही साथ कई प्रदेशों के कवि माने जाते रहे हैं। जैसे बगाल वाले उन्हें अपना कवि मानते हैं और मिथिला वाले अपना। परन्तु जन श्रुतियों से परे हटकर अन्तर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य को दृष्टि में रखकर सोचने वाले कई विद्वानों ने उनके जीवन के सूत्रों पर विचार किया है और अब यह बात कई विद्वानों ने उनके जीवन के सूत्रों पर विचार किया है और अब यह बात अत्यन्त निभ्रांति हो गई है कि वे बंगाली न होकर मैथिल ब्राह्मण थे।

जहां तक विद्यापति के ज्ञान, विद्या, और प्रतिभा का प्रश्न है यह बात अस्मिन्दिग्ध है कि उन्हें अपने जीवन में ही अनेक बार अभूतपूर्व सम्मान मिले तथा उन्हें अभिनव जयदेव, महाराज, पंडित, सुकवि कंठहार, राज पंडित, खेलन कवि, सरस कवि, नव कवि शेखर, कविवर, सुकवि जैसे विरुद प्राप्त हुए। इन उपाधियों से स्पष्ट है कि वे अपने समय के उदग्र, प्रतिभा सम्पन्न और ख्याति लब्ध कवि थे। अपने काव्य के लिए विद्यापति स्वयं इतने आश्वस्त थे कि उसका अनुमान विद्वान इस चतुष्पदी से लगा सकते हैं—

बालचंद विज्जावइ मासा
दुहु नहीं लागइ दुज्जन हासा
ओ पर मेसुर हर सिर सौहाई
ई गिाच्चई पायर मन मोहइ

उक्त चतुष्पदी से स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान होते हुए भी केशवदास की भांति उन्होंने लोकभाषा को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा। अपने काव्यों की भाषा पर उन्हें स्वयं बहुत गर्व था।

अपने जीवन काल में विद्यापति ने बारह कृतियों की रचना की। ये कृतियां हैं—भू परिक्रमा, पुरुष परीक्षा, लिखनावली, विभागसार, शैव सर्वस्वसार, गंगा वाक्यावली, दुर्गा भक्ति तरंगिणी, दान वाक्यावली, गयापत्तनक, वर्षकृत्य पाण्डव विजय आदि। उनकी कीर्तिलता अपभ्रंश में और कीर्तिपताका अपभ्रंश और संस्कृत दोनों में विरचित हैं तथा विद्यापति पदावली मैथिल भाषा में। अपनी पदावली में उन्होंने जो गीत लिखे हैं, कहते हैं उनके माधुर्य पर गद्गद् हो चैतन्य उन्हें गाते गाते मूर्च्छित हो जाते थे।

गीति तत्त्वों की दृष्टि से भी विद्यापति की पदावली स्वयं में एक दिव्य कृति है। गीति काव्य में व्यक्ति तत्त्व, गेयता, संक्षिप्ता प्रेम की उत्कटता, अभिव्यक्ति की तीव्रता, भावोन्माद तथा आशा निराशा की धारा अबाध गति से प्रवाहमान रहती है साथ ही कवि की विषयानुभूति एवं व्यापार एवं उसके सूक्ष्म हृदयोद्गार उसके काव्य में संगीत के अपूर्व मार्दव में व्यक्त होते हैं। विद्यापति के काव्य में व्यक्तिगत विचार नहीं के बराबर हैं परन्तु नसमें गीत काव्य के उक्त सभी गुणों के साथ भावोन्माद की प्रचण्ड धारा वर्षाकालीन तीव्र शैवालिनी के वेग से किसी भी प्रकार कम नहीं है।

राधा कृष्ण तथा उनकी अनेक लीलाएं ही उनकी पदावली के विषय हैं। उनके काव्य में शृंगार का प्रस्फुटन स्फुट रूप में मिलता है। शृंगारिक पदों में अनुभूति की तीव्रता गेयता से समन्वय कर उन्हें

विदग्ध गीतकार ठहराती है। गीति काव्य की दृष्टि से हम उन पर अन्यत्र विचार करेंगे। यहां उनकी पदावली के आधार पर हम उनका व्यक्तित्व निर्धारित करना चाहते हैं।

विद्यापति के पदों को प्रमुख रूप से हम तीन भागों में बांट सकते हैं—

१—शृंगारिक

२—भक्ति रसात्मक तथा

३—विविध विषयक पद

विद्यापति के जितने पद राधाकृष्ण के वर्णन सम्बन्धी अथवा नायक नायिकाओं पर लिखे गए हैं, सब शृंगारिक हैं। महेशवाणी, नचारियां दुर्गा गौरी तथा गंगा से सम्बद्ध पद दूसरी श्रेणी में एवं प्रहेलिका कूट आदि पद और शिव सिंह युद्ध वर्णन तृतीय श्रेणी के अंतर्गत आते हैं।

इन सभी पदों को लेकर विद्वानों ने उनके लिए एक भारी विवादास्पद प्रश्न यह खड़ा किया है कि क्या विद्यापति भक्त कवि थे या शृंगारिक? अब तक इसी प्रश्न को लेकर आलोचकों ने कई पुस्तकें लिखी हैं और इन पदों के आधार पर सबने यही निर्णय लिया है कि विद्यापति घोर शृंगारिक कवि थे।

डॉ० रामकुमार वर्मा लिखते हैं—“विद्यापति के भक्त हृदय का रूप उनकी वासनामयी कल्पना के आवरण में छिप जाता है। उन्हें तो सद्यः स्नाता और वयः सन्धि के चंचल और कामोद्दीपक भावों की लड़ियां गूंथनी थीं। वयः सन्धि में ईश्वर से सन्धि कहाँ? सद्यः स्नाता में ईश्वर से नाता कहाँ? अमिसार में भक्ति का सार कहाँ? उनकी कविता विलास की सामग्री है, उपासना की साधना नहीं।”

डॉ० वर्मा जैसे प्रबुद्ध आलोचक ने विदित नहीं यह निर्णय किस आधार पर लिया है। इस सम्बन्ध में हमारा उनसे गहरा मतभेद है।

श्री विनय कुमार सरकार, श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, गुणानन्द जुयाल, श्री कुमुद विद्यालंकार—सभी ने उनके भक्त होने में बाधा उपस्थित की है। श्री विद्यालंकार कुमुद लिखते हैं:—“ध्यान पूर्वक विचार करने से संधिकाल के परम रसिक कवि विद्यापति को भक्त कवि की श्रेणी में रखना केवल भ्रम ही नहीं कवि के साथ अन्याय भी होगा। निश्चय ही कवि ने राधाकृष्ण के नामों का उपयोग भक्ति के लिए नहीं किया है।”

आलोचकों के उक्त सभी निष्कर्षों से हमारा मतभेद है। हम नहीं समझते कि इन विद्वानों ने तटस्थ होकर तथा विद्यापति का गहराई से अध्ययन कर यह निर्णय दिया हो। वास्तव में विद्यापति को घोर शृंगारिक मानना उनकी अन्तःचेतना, व्यक्तित्व, उनके दर्शन तथा पृष्ठभूमि जन्य सभी मूल तत्वों की भारी अवहेलना होगी।

विद्यापति भक्त थे या शृंगारिक इसको समझने के लिए हमें उनके विचार-दर्शन, अंतःचेतना की पृष्ठभूमि, जीवन के मूलतत्व तथा उनके पूर्ववर्ती साहित्य की परंपरा का अध्ययन करना होगा। हम समझते हैं, आलोचकों ने उन्हें घोर शृंगारिक ठहराने के अब तक जो भी निर्णय लिए हैं वे केवल उनकी पदावली के पाठ और उसके रचना विषय को लेकर ही लिए हैं। कवि के मूल तत्व, साहित्य की धारा तथा उसकी तत्कालीन मुख्य प्रवृत्तियों पर उन्होंने कदाचित ही विचार किया हो। यदि विद्वान आलोचक विद्यापति के समय की धार्मिक, दार्शनिक एवं साहित्यिक धाराओं का गहराई से अध्ययन करते तो वे विद्यापति के व्यक्तित्व

और कर्तव्य के साथ न्याय कर पाते और शायद तब स्थिति वह नहीं होती, जो आज है और हमारी यह निश्चित मान्यता है कि तब उनके हाथ से मिथिला के अमर कवि का इतना अहित भी नहीं होता। किमी के काव्य को शृंगारिक कहना और बात है (और उससे हमें कोई आपत्ति भी नहीं) पर उसे केवल ऊपरी दृष्टि से देखकर उनके काव्य को कामक्रीड़ा जन्य विलास की सामग्री आदि कहकर लांछित करना दूसरी बात है। एक बात में मूल्यांकन है और दूसरी बात में उसके प्रति किया गया लांछन है जिसे वस्तुतः किसी भी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता। प्रस्तुत निबंध में विद्यापति के सृजन की विभिन्न परिस्थितियों के अंतराल में जाकर विशिष्ट अध्ययन प्रस्तुत किया गया है जिसमें विद्यापति सम्बन्धी पूर्व मान्यताओं के प्रतिकूल अनेक तथ्य मिलेंगे। हिन्दी साहित्य की १३वीं तथा १४वीं शताब्दी की साहित्यिक, सामाजिक, धार्मिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि का अध्ययन कर यदि विद्वान आलोचक विद्यापति के काव्य का मूल्यांकन करते तो शायद उन्हें “घोर शृंगारी” का खिताब न मिलता। हमारे विचार से विद्यापति एक भक्त कवि थे और शृंगार उनका वर्ण्य विषय था और इस शृंगार वर्णन के माध्यम से ही उन्होंने अपने अपने कर्तृत्व को भक्त के रूप में प्रस्तुत किया है। विद्वानों के परितोष के लिए हम अग्रंकित सारी सामग्री प्रस्तुत कर रहे हैं।

महात्मा बुद्ध के निर्वाण के बाद बौद्ध धर्म महायान और हीनयान इन दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। हीनयान, हीन माना गया और महायान क्रमशः मंत्रयान, वाममार्ग एवं वज्रयान के रूप में परिवर्तित हो गया। इसी मंत्रयान के प्रसिद्ध आचार्य नागार्जुन थे और नागार्जुन के “शून्यवाद” का विकसित रूप “सहजयान” था। सिद्ध सिद्धान्ततः सहजयानी थे। इसमें जंत्रमंत्र, डाकिनी, पूराकिनी, अभिसार यक्र पूजा, पंच मकार आदि का विकास हुआ। भैरवी चक्र और मैथुन आदि भी इसमें शामिल थे। मैथुन छह प्रकार की सिद्धियों का दाता था। साधकों ने इसीलिए इसे महासुख नाम दिया। यही इसकी अंतिम अवस्था थी। बौद्ध-दर्शन के हीनयान के विकसित रूपों की परम्परा अबाध रूप से चल रही थी। तांत्रिकों की यह महासुख की भावना का सिद्धान्त बौद्धमत की निर्वाण की भावना से विकसित हुआ है। अब मैथुन के लिए स्त्री की आवश्यकता हुई, अतः उसका महत्व बढ़ा। इस महासुख का बड़ा रहस्यमय वर्णन मिलता है। यह मुद्रासाधना (स्त्री साधना) से मिलता जुलता है। ये मुद्राएं-कर्ममुद्रा, महामुद्रा, धर्ममुद्रा तथा समयमुद्रा चार प्रकार की हैं। इन मुद्राओं से जो आनंद मिलता है, वह भी आनंद, परमानंद, विरमानंद और सहजानंद आदि चार प्रकार का है। इस प्रकार की स्त्री साधना ही इसमें प्रमुख थी। यद्यपि साहित्यिक सिद्धों ने वज्रयान से विमुख होकर स्त्री को व्यर्थ बताया पर स्त्री की भावना दवे रूप से पलती रही और इसीलिए संसार रूपी विष की मुक्ति के लिए स्त्री रूपी विष को परमावश्यकता बताई गई। “विषस्य विषमौषधम्”। इसलिए भोग में निर्वाण की भावना सिद्ध साहित्य में देखने को मिलती है। जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों में विश्वास रखने के कारण ही सिद्धों का यह सम्प्रदाय “सहजयान” कहलाता है।

इसी सहजयान की यह परंपरा साहित्य में आगे बढ़ी और साधना की इस धारा के इस सम्प्रदाय का प्रभाव वैष्णव धारा पर भी पड़ा। वैष्णव धारा के कवियों ने इस बौद्ध सहजयान को वैष्णवी रूप में प्रतिष्ठित किया। सहजयान के इस वैष्णवीकरण पर अभी तक विद्वानों ने विचार नहीं किया है। वैष्णव कवियों ने जो भी प्रेम गीत गाए हैं, उनमें ईश्वर के प्रति प्रेम या तो स्वकीया प्रेम का आदर्श लेकर चला या परकीया प्रेम का। पर सहजयान की स्त्री साधना दोनों में विद्यमान रही।

इन दार्शनिक तत्वों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बौद्ध सहजयान में यौगिक क्रियाएँ ही मुख्य थीं। उसके दार्शनिक तत्व बौद्ध महायान के सिद्धान्त थे। वास्तव में गुह्य साधना काम क्रीड़ाजन्य आनंद को अलौकिक यौगिक आनंद में परिणित करने के लिए ही की जाती थी। इस प्रकार इस स्त्री साधना के तत्व से परकीया प्रेम को धीरे धीरे सफलता मिलने लगी और उसका प्रभाव चण्डीदास के प्रेम गीतों पर देखा जा सकता है। चण्डीदास, कहते हैं, रामा नामक एक धोबी की स्त्री से प्रेम करते थे जो सहजिया सम्प्रदाय का ही प्रभाव था, परन्तु यह केवल किंवदन्ती ही कही जाती है और इतिहास इस तथ्य की पुष्टि नहीं करता। जो हो, पर इतना अवश्य सत्य है कि चण्डीदास सहजिया साधक थे। यों भी बंगाल का चैतन्य गौडीय सम्प्रदाय मधुर भाव की उपासना को ही प्रधानता देता है। सिद्धों की इस स्त्रीसाधना का प्रभाव इस सम्प्रदाय पर अवश्य पड़ा होगा, क्योंकि माधुर्य भाव मात्र स्त्री भाव को ही प्रधानता देता है। काम क्रीड़ा जन्य यह आनंद की साधना इसी काल में आगे बढ़ी। इसी साधना के साथ शिव और शक्ति का सम्बन्ध जुड़ा, जो बौद्ध दर्शन में प्रज्ञा और उपाय के रूप में था। यही परंपरा आगे चलकर रस एवं रति के रूप में कृष्ण व राधा बन कर वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय में उतरी। ब्रज में कृष्ण को रसेश कहा गया है और राधा-कृष्ण के अंतरंग विहार को अत्यन्त गुह्य माना गया है। निम्बार्क, राधाबल्लभ, हरिदासी और चैतन्य गौडीय सम्प्रदाय सभी का मूल भाव माधुर्य है। इस स्त्री भाव की साधना को ब्रज में वृन्दावन भाव और इस रस को ब्रज रस कहा जाता है। तथा यह विहार क्रीड़ा अन्तरंग लीला का रूप धारण किए है। इस प्रकार सहजयान का वैष्णवी स्वरूप रस और रति, राधा और कृष्ण और लीला आदि तत्वों के रूप में परिणित होता दिखाई पड़ता है। यहीं राधा कृष्ण इन भक्त कवियों के वर्ण्य विषय बने और जयदेव, विद्यापति ने राधाकृष्ण के प्रेम गीत गाए। विष्णु के दस अवतारों में राम व कृष्ण ही काव्य के प्रमुख प्रेरक बने और गौडीय वैष्णव काव्य के आदि कवियों ने कृष्ण को अपनाया। राम को कवियों ने मर्यादा पुरुषोत्तम कहकर उनका नायकत्व स्थापित किया और कृष्ण को लीलाधारी। परन्तु रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय और रामभक्ति काव्य में माधुर्योपासना पर जो शोध कार्य सामने आए हैं उनसे राम के जीवन में माधुर्य तत्व और राम भक्ति में मधुरोपासना का एक नया अध्याय खुला है। और कृष्ण का जीवन तो माधुर्य प्रेरित था ही। अतः इन सभी बातों से माधुर्य भाव की अति व्युत्पत्ति स्पष्ट होती है। उक्त कथ्यों से निष्कर्ष यह निकला कि सहजयान की यौगिक साधना ने इस वैष्णव प्रेम साधना को अत्यन्त प्रभावित किया है अतः यह कहना असत्य होगा कि चैतन्य का सम्प्रदाय पूर्ववर्ती सहजिया साधना से प्रभावित नहीं था। उसका परिनिष्ठित रूप जैसा भी है, सबको उसकी भी पर्याप्त जानकारी होनी चाहिए।

वैष्णव सहजयान ने प्रेम को मुख्य सिद्धान्त के रूप में अपनाया। गुरु की भक्ति भी इन कवियों में बौद्ध सहजयान की ही भांति है।

जब बंगाल में पालवंश के बाद सेनवंश राज्य करने लगा तो सहजिया मत के महान कवि जयदेव का उद्भव हुआ जिन्होंने राधाकृष्ण की प्रेम लीला को वर्ण्य विषय बनाकर काव्य को शृंगारा। विद्यापति व चण्डीदास समकालीन कवि थे। इन्होंने काव्य में परकीया प्रेम का ही आदर्श लिया।

महासुख की कल्पना इन कवियों में भी मिल जाती है। ये कवि महासुख को ब्रह्म की भांति मानते हैं। राधाकृष्ण की मिलन स्थिति को शिव व शक्ति की मिलन स्थिति के समान कहा गया है। दोनों का अलौकिक प्रेम संयोग ही सहजावस्था है। जीव का ईश्वर से प्रेम संयोग हो जाना ही आलौकिक आनंद

प्राप्त करना है। इस प्रकार इन कवियों ने बौद्ध सहजयान की योग क्रियाओं से परिपुष्ट काम भाव से “प्रेम” तत्व ले लिया और वही प्रेम अब चण्डीदास तथा विद्यापति द्वारा आध्यात्मिकता में ढाला जाने लगा। ये परम ईश्वर को मानव-प्रेम में खोजने लगे। अतः राधा और कृष्ण ही इन भक्त कवियों के आधार बने। राधा को कृष्ण की शक्ति जानकर कृष्ण को पारब्रह्म के रूप में माना गया। कृष्ण में भोक्ता और भोग्य दो तत्व अभिहित किए गए। दोनों का सम्बन्ध नित्य तथा अक्षर माना गया। राधा भोग्य रही, कृष्ण भोक्ता और वृन्दा का मनोहारी वन ही इनका लीलाधाम समझा गया। इस प्रकार इन दोनों के इस अंतरंग प्रेम को विद्यापति ने मानवीय प्रेम के रूप में प्रस्तुत किया और प्रेम की भावना परकीया इसलिए रखी गई कि उसमें असाधारण उत्कटता हो। निष्कर्षतः विद्यापति ने इस धारणा को आदर्श बनाया कि भक्त को भगवान से ऐसा ही प्रेम करना चाहिए जैसा परकीया अपने प्रेमी से करती है। उक्त समस्त विश्लेषण इसलिए प्रस्तुत किया गया है कि विद्यापति की कवि परंपरा स्पष्ट हो जाय और विद्वानों के सामने यह बात खुले कि वे किस सम्प्रदाय के दर्शन से प्रभावित कवि थे।

“विद्यापति भक्त थे”—इस महत्वपूर्ण स्थापना की अभिसिद्धि के लिए हम और अनेक मौखिक मान्यताओं को विद्वानों के सामने रखना चाहते हैं। हो सकता है ये निष्कर्ष उन्हें भी रुचें और विद्यापति सम्बन्धी पूर्वाग्रह नई मान्यता में परिणित हो जायं। इसके लिए हम कुछ अग्रामित निर्णय प्रस्तुत कर रहे हैं:—

१—विद्यापति सगुण वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय के कवि थे।

२—सहजिया दर्शन से प्रभावित होकर ही उन्होंने प्रेम तत्व या परकीया प्रेम को जीवन का लक्ष्य समझा।

३. इस संदर्भ में हम डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के “साहित्य के माध्यम से धार्मिक संबंध” नामक निबंध में प्रकट किए कुछ विचारों को प्रकट करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहे—मध्यकाल के भक्त कवियों को समझने के लिए हमें थोड़ा सा वर्तमान काल से निकलना पड़ेगा। हम जिस वातावरण में शिक्षित हुए हैं उसकी एक बड़ी विशेषता यह है कि उसने हमारी समस्त प्राचीन अनुश्रुतिक धारणाओं से हमें अलग विच्छिन्न कर दिया है। यदि हम संपूर्ण रूप से विच्छिन्न भी हो गए होते तो हम आधुनिक ढंग से सोचने की अनाविल दृष्टि पा सकते। परन्तु हम पूर्ण रूप से अनुश्रुतियों से विच्छिन्न भी नहीं हुए हैं और उन्हें जानते भी नहीं हैं नतीजा यह हुआ कि श्री कृष्ण का नाम लेते ही हम पूर्णानन्द घन विग्रह की सोचे बिना नहीं रहते और फिर भी गोपियों के साथ उनकी रास लीला की बात समझ नहीं सकते अर्थात् श्री कृष्ण को तो हम परम देवता का रूप मान लेते हैं। और आगे चलकर हम सारी कथा को तदनु रूप नहीं समझ पाते। इस अधकचरी दृष्टि का परिणाम यह हुआ कि हम वैष्णव कवियों की कविता को न तो उसके तत्ववाद निरपेक्ष रूप में देख पाते हैं और न तत्ववाद सापेक्ष रूप में। हम भट कह उठते हैं कि भगवान के नाम पर ये क्या ऊल जलूल बातें हैं। यदि सूरदास के श्री कृष्ण और राधा, कालिदास के दुष्यन्त और शकुन्तला की भांति प्रेमी और प्रेमिका होते तो बात हमारे लिए सहज हो जाती। पर न तो वे प्राकृत ही हैं और न हमें उनके अप्राकृतिक स्वरूप की वास्तविक धारणा ही है, इसलिए हम न तो वैष्णव कवियों की कविताओं को विशुद्ध काव्य की कसौटी पर ही कस सकते हैं और न विशुद्ध भक्त की दृष्टि से ही अपना सकते हैं। हम मध्यकाल के भक्त कवि को गलत किनारे से देखना शुरू करते हैं और आधा सूधा जो कुछ हाथ लगता है उसी से या तो भुंभला उठते हैं या गद्गद हो जाते हैं।

उक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि भक्त कवि की कृतियों का सही मूल्यांकन करने में हम आधुनिक दृष्टि का उपयोग न करें। इस भ्रमपूर्ण उपनयन को उतारने के बाद ही हम उनके काव्य और व्यक्तित्व को आंकने की अनाविल दृष्टि पा सकते हैं अपने एक और लीला और भक्ति निबंध में द्विवेदी जी ने चैतन्य देव और राय रामानंद का एक संवाद प्रस्तुत किया है। चैतन्य देव ने राय रामानंद से जब पूछा, “विद्वत्, तुम भक्ति किसे कहते हो?” उन्होंने भक्ति के लिए क्रमशः स्वधर्माचरण, प्रेम, कर्मा का अर्पण, दास्य प्रेम, सख्य प्रेम, कान्ता भाव आदि उत्तर दिए पर अंत में राधाभाव ही प्रमुख उत्तर रहा। महाप्रभु ने इस अंतिम उत्तर के लिए उनसे प्रमाण मांगा। प्रमाण में राय रामानंद ने गीत गोविंद का ही मत उद्धृत किया और कहा—“भगवान श्रीकृष्ण ने राधा को हृदय में धारण करके अन्यान्य ब्रज सुन्दरियों को त्याग दिया था। अतः कान्ता भाव में राधा भाव ही सर्व श्रेष्ठ ठहरा। यही राधा भाव जयदेव ने भागवत पुराण परंपरा से अलग रखा है। भागवत में कहीं गधा का नाम तक नहीं है।

हमारी विद्यापति सम्बन्धी इस मान्यता की पुष्टि में हम आचार्य द्विवेदी के एक उद्धरण को और रखना चाहेंगे जिसमें विद्वान आलोचकों ने जयदेव से प्रभावित विद्यापति के लक्ष्यों तथा मूल तत्त्वों का स्पष्टीकरण किया है— भगवान में जितने संबन्धों की कल्पना हो सकती है उनमें कान्ता भाव का प्रेम ही श्रेष्ठ माना गया है। वैष्णव भक्तों ने इस सम्बन्ध को इतने सरस ढंग से व्यक्त किया है कि भारतीय साहित्य अन्य साधारण अलौकिक रस का समुद्र बन गया है।”

इस बात से यह धारणा स्पष्ट होती है कि कान्ता भाव का वैष्णव भक्तों से कितना गहरा लगाव रहा है। वस्तुतः विद्यापति को यह परंपरा जयदेव से थाती के रूप में मिली जिसका प्रमुख लक्ष्य था प्रेम (परकीया प्रेम) वर्णन और हम विद्यापति को इसी मार्ग पर दृढ़ता से बढ़ता हुआ पाते हैं।

इस तरह यह निष्कर्ष निकला कि सगुण वैष्णव सहजयान मत का यह प्रेमी कवि परकीया प्रेम में ही मोक्ष और महामुख की कल्पना करता था।

प्रायः आलोचक वर्ग उन्हें उत्तान शृंगारी कवि सिद्ध करने के लिए उनके इस पद को उद्धृत करते हैं—

नीवी बंधन हरि किए दूर
एहो पये तोर मनोरथ पूर
विहर से रहसि हेरने कौन काम
से नहिं सह बसि हमर परान
परिजनि सुनि सुनि तेजव निसास
लहु लहु रमह सखी जन पास

उक्त पद में कवि ने राधा-कृष्ण के मिलन एवं संभोग का वर्णन किया है जिसे अश्लील कहा जाता है, पर आलोचक यही नहीं सोचते कि साधना जन्य स्थितियों को एषं मिलन महामुख को वर्ण्य विषय बनाने वाले इस कवि को उक्त पद लिखने में क्या भिन्नक हो सकती थी? उनके लिए यह सभी वर्णन महामुख की कामना का प्रयास था। ऐसे वर्णनों को अश्लील कहने तथा कवि को विलास की सामग्री मात्र प्रस्तुत करने वाला कहने के पूर्व हमें कुछ और महत्वपूर्ण बातों पर भी विचार कर लेना चाहिए। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं:—

विद्यापति ने राधाकृष्ण का प्रेम स्वकीया का नहीं अपनाया, क्योंकि वैवाहिक बंधनों व नित्य सहवास से उसमें तीव्रता नहीं रहती। हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि में परकीया प्रेम पर एक अभिमत प्रकट किया गया है—‘प्रेम तो परकीया का ही आदर्श है जिसमें सारे सामाजिक बंधनों का तिरस्कार कर विविध उपायों से परकीया अपनी आत्म विभोरावस्था में पर पति से मिलने में कोर कसर नहीं उठा रखती। यह प्रेम किसी स्वार्थ के लिए नहीं होता, प्रेम के लिए ही होता है।’ और विद्यापति ने इसीलिए परकीया को अपने काव्य का आदर्श बनाया है।

राधा और कृष्ण के इसी स्वरूप को वर्ण्य विषय बनाकर इस भक्त कवि ने काव्य में प्रस्तुत किया ताकि उसमें भावोन्मेष तथा प्रेम की उत्कटता चरम पर हो और वह परम तन्मयता से उसमें डूबा भी है। राधा और कृष्ण के संयोग और वियोग के जितने चित्र कवि ने प्रस्तुत किए हैं वे अत्यन्त मुक्तता और तल्लीनता से लिए हैं। उसे क्या पता था कि कालान्तर में विद्वान उसकी परंपरा, सम्प्रदाय, पृष्ठभूमि, जन्म परिस्थितियां और उसके जीवन दर्शन पर सोचे बिना ही उसको घोर श्रृंगारिक या विलासपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करने वाला कवि कहेंगे। और भी यों साधक को इन बातों की कभी चिन्ता नहीं होती। भावोन्मेष में वह रति भाव को भी बड़े सामर्थ्य एवं मुक्तता से कह जाता है।

परकीया के चित्रण में इन वैष्णव सहजयानी भक्तों को किसी सामाजिक अनुशासन का भी क्या भय हो सकता था और इसीलिए विद्यापति के साथ साथ चंडीदास के संयोग वर्णनों में भी विद्यापति की भांति अश्लीलता (विद्वानों के शब्दों में) आ गई है। वे तो उन्मुक्त हो कर महासुख की कल्पना में ही यह सब लिखते हैं।

विद्यापति को उत्तान श्रृंगार जयदेव द्वारा ज्यों का त्यों परम्परा में मिला। क्या जयदेव के चित्रण अश्लील नहीं कहे जा सकते ?

विद्यापति के लिए राधा-कृष्ण की संयोग लीला जीव एवं ईश्वर की मिलनावस्था का प्रतीक थी।

चैतन्य ने तो अपने आपको राधा ही मान लिया था उनका ध्येय भी स्वयं पर कृष्ण को रिझाना था। वे कृष्ण के आकर्षण में तल्लीन थे।

कृष्ण के लिए चैतन्य को भी विद्यापति ने राधा की तरह वियोग में घंटों रोते और मूर्च्छित होते देखा तो उनमें भी इस प्रवृत्ति ने तीव्रता से घर किया। पर विद्यापति ने यह राधा भाव, सखी भाव के रूप में ग्रहण किया है। वैष्णव कवियों ने भी इस सखी भाव को ही अधिक अपनाया है। विद्यापति स्वयं को कृष्ण की सखी के रूप में ही कल्पित करते थे। ऐसी सखी, जो स्वयं कृष्ण से संयोग नहीं चाहती थी, वरन् वह कृष्ण और राधा की प्रेम क्रीड़ा, संयोग क्रीड़ा और अंतरंग लीला को अव्याहत देख कर महासुख प्राप्त करती रहे, यही उसका अभीष्ट था।

वृन्दावन में होने वाली नित्य लीला ही उनके लिए शाश्वत महासुख की कल्पना थी। चैतन्य गौड़ीय सम्प्रदाय और उसके समकालीन ब्रज के अन्य सभी सम्प्रदायों में इस महासुख की लीला को असाधारण महत्व दिया गया है। कृष्ण के आठ सखा और राधा की आठ सखियां ही उस लीला में प्रवेश पाने की अधिकारिणी हैं। कृष्ण को ईश्वर के रूप में और राधा को उनकी परम आद्या शक्ति के

रूप में ग्रहण कर जीव को उस माधुर्य लीला देखने को लालायित बताया गया है। उस लीला में संयोग शृंगार का सुन्दर रूप देखने को मिलता है। उसमें शृंगार की कहीं कोई उत्तानता नहीं मानी जाती। उस लीला में किसी को भी प्रवेश पाने का अधिकार नहीं। केवल राधा की अन्तरंग सखियां ही उसमें जाने की अधिकारिणी मानी गई हैं। विद्यापति ने इसीलिए सखी भाव को ग्रहण कर निर्भय होकर अभिसार, शृंगार, संयोग आदि के मुक्त वर्णन किए हैं। ये वर्णन केवल अपने काम्य को रिभाने के लिए ही हैं और इसीलिए इनमें अभिव्यक्ति की सरलता, प्रगाढ़ तन्मयता और प्रेम की पूर्ण उत्कटता है। उसमें कहीं भी भिन्नक और संकोच को स्थान नहीं है।

विद्यापति चैतन्य की भांति राधा और कृष्ण की प्रेम लीला की भांकी पाने के लिए जिज्ञासु रहते थे और इसी लालसा पूर्ति के चित्र उनके काव्य में है जो उनकी महासुख दशा के मार्मिक स्वप्न और तज्जन्य आध्यात्म के संदेश देते हैं। इस संदर्भ में एक प्रश्न यह उठ सकता है कि क्या आंखों देखा वर्णन करने या अश्लील वर्णन करने के लिए ही विद्यापति ने सखी भाव अपनाया था? तो उसके लिए कहा जा सकता है कि वे जीव की सत्ता भगवान से भिन्न मानते थे। जीव और भगवान कभी एक नहीं हो सकते। इसलिए जीव को भगवान की लीला देखने को मिल जाय तो वह उसके लिए एक दुर्लभ प्राप्ति होगी। यों यह जीवात्मा कृष्ण की तदस्थ शक्ति अर्थात् प्रकृति ही है और वह पुरुष है इसका उसे अभिमान है अतः शक्ति को प्राप्त करने के लिए एवं पुरुषत्व का दंभ दूर करने के लिए ही उन्होंने यह सखी भाव अपनाया। यह कहा जाता है कि ब्रज की यह लीला इतनी महान और गोपनीय है कि ब्रज में हुए ऐतिहासिक राधा कृष्ण को भी इसमें प्रवेश का अधिकार नहीं है। लेकिन विद्यापति वृन्दावन के इन्हीं ऐतिहासिक राधा-कृष्ण को लेकर उस अनिर्वचनीय लीला का स्मरण, जो महासुख मयी बनकर सदैव हुआ करती है, इन्हीं लीलाओं के वर्णन में तीब्रानुभूति लाकर करना चाहते थे। यही उनके लिए परम-सुख था। अतः उनका यह लौकिक लीलाओं का ज्ञान, जिन्हें हम अस्वस्थ, अश्लील या उत्तान शृंगार कहते हैं, वस्तुतः अलौकिक लीला का ही गान था।

विद्यापति ने राधा-कृष्ण की लीलाओं का सखी रूप में भावनाकर यह जो यथार्थ वर्णन किया है, यह कभी अस्वाभाविक नहीं हो सकता, क्योंकि साधारण स्त्रियों में भी अभिसार, शृंगार और उत्कट काम भावनाओं का स्थायी रूप में होना प्राकृतिक है। इसलिए यदि विद्यापति ने लीलाधारी की प्रणयावस्था अथवा राधाकृष्ण के संयोग के चित्र प्रस्तुत किए, नायक को उत्तेजित करने के उदाहरण उपस्थित किये, सद्यः स्नाता को निरखा, वियोग में विरह पीड़ित दिखाया और नखशिख वर्णन कर कथः सन्धि कराई तो क्या अनुचित किया। विद्यापति का जीवन दर्शन तो कहता है, यह सब उन्होंने उत्कृष्ट साधक या महासुख के प्रति असाधारण जिज्ञासु या भक्त बनकर ही यह सब किया।

विद्यापति को असाधारण विश्वास था कि लौकिक लीला के गायन से ही सखी रूप में जीव नित्य लीला में प्रवेश पा सकता है अन्यथा महासुख की लीलाओं में पुरुष को लीला भवन के द्वार पर ही 'प्रवेश निषेध' देखकर प्रवेश के लिए अन्यन्त सशक्त हो जाना पड़ेगा! वस्तुतः भक्त अद्वैतवादियों की तरह स्वयं को भगवान में मिलाकर एकत्व नहीं चाहता। वह तो अपना अस्तित्व स्वतंत्र रखना चाहता है और अपने स्वतंत्र अस्तित्व से ही भगवान की लीलाओं का आनंद उठाना चाहता है।

एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सत्य यह भी सामने आता है कि चैतन्य के बाद वैष्णव भक्त कवियों में यह विश्वास असाधारण गति से बढ़ा कि प्रत्येक व्यक्ति में कृष्ण का स्वरूप है, जो लौकिक भावना या लौकिक जीवन से मिला है। लौकिक जीवन में दूसरा तत्व रूप राधा का अंश है। अतः इस भावना ने और अधिक तीव्रता पकड़ी कि प्रत्येक व्यक्ति कृष्ण है और प्रत्येक नारी, जो रूपवती है, राधा है और विद्यापति ने शिवासिंह तथा लखिमारानी को इन्हीं कारणों से निरन्तर अपने पदों में संबोधित किया है। इस प्रकार हिंदू तांत्रिकों का यह सिद्धान्त कि प्रत्येक पुरुष शिव है और हर नारी शक्ति, असत्य नहीं है। बौद्ध दर्शन में वही शून्य या करुणा, प्रज्ञा या उपाय के रूप में मिलता है। महाकवि विद्यापति ने इन्हीं सिद्धान्तों से प्रेरित होकर काव्य रचना की है। अतः यदि चैतन्य पर इन भावनाओं का तांत्रिकी से असर पड़ा है, तो विद्यापति पर भी यह सब होना अत्यन्त स्वभाविक है।

विद्यापति के राधाकृष्ण विषयक इसी दृष्टिकोण का समर्थन कर उनका भक्त के रूप में व्यक्तित्व स्पष्ट करते हुए एक विद्वान् आलोचक ने एक राधाकृष्ण विषयक धारणा का स्पष्टीकरण किया है। उनके इस अवतरण से इस बात को पूर्ण बल मिलता है कि विद्यापति का राधाकृष्ण विषयक दृष्टिकोण उनके काव्य में किस रूप में आया है। 'कृष्ण व राधा रस व रति हैं केवल रसिक ही इसे जान सकते हैं। पुरुष व स्त्री को पहले अपने को कृष्ण व राधा समझकर लौकिक रति करना चाहिए और धीरे धीरे लौकिक वासना को अलौकिक प्रेम में परिणित करना चाहिए। तब पुरुष को कृष्णत्व और स्त्री को राधात्व प्राप्त हो जायगा और लौकिक प्रेम अलौकिक प्रेम में बदल जायगा।'

इस प्रकार हमारे उक्त विश्लेषण से विद्यापति का कृष्ण और राधा सम्बन्धी दृष्टिकोण स्पष्ट होता है और यह विचार तथ्य के अधिक निकट पहुंचता है कि विद्यापति वैष्णव सगुण सहजिया सम्प्रदाय के कवि थे और इस संप्रदाय पर बौद्ध तथा हिन्दू दर्शन का ही प्रभाव था। वस्तुतः इस सम्प्रदाय की दो धाराएं मानी जा सकती हैं :—

१. एक वह, जो तांत्रिक प्रभाव से कम प्रभावित, शुद्ध सगुण वैष्णव धारा है।
२. और दूसरी वह, जो तांत्रिक प्रभाव से पूर्ण प्रभावित, सगुण सहजिया वैष्णव धारा। इस तरह हम चैतन्य को पहली धारा का कवि तथा चण्डीदास और विद्यापति को पूर्णतया सगुण वैष्णव सहजियान धारा के अनुयायी कवि कह सकते हैं।

इस प्रकार वैष्णव सहजियान के अनुयायी भक्त कवि विद्यापति ने इसीलिए लौकिक व अलौकिक प्रेम को सामान्य स्तर पर रख समान महत्व दिया और अपनी पदावली में निर्भीक होकर शृंगारिक पद लिखे। क्योंकि वे जानते थे कि यदि लौकिक प्रेम में मनुष्य मानसिक संतुलन रखे और स्वयं को अनुशासित करे, तो वह लौकिक प्रेम अलौकिक या दिव्य प्रेम में बदल सकता है।

विद्यापति प्रेम को काम का ही एक रूप मानते हैं और उनकी दृष्टि से काम ही महासुख प्राप्ति का एक मात्र माध्यम है। अतः यह बात समझ में आजाती है कि उन्होंने लौकिक प्रेम और काम आदि के इतने खुले चित्र क्यों प्रस्तुत किये हैं। वस्तुतः कवि का मन शृंगार के मूल भाव काम के चित्रण में इसीलिए खूब रमा।

सगुण वैष्णव सहजयान के भक्त कवि मनुष्य को ही देवता मानते हैं अन्य किसी को नहीं। उनकी धारणा है कि मनुष्य ही स्वयं कृष्ण का रूप है और उसे मानवीय लीलाओं के स्तर पर वर्णन करने में कोई संकोच अनुभव नहीं हो सकता। अतः इस धारा के अनुगामी जितने भी कवि हैं, वे सब कठोर साधक एवं भक्त हैं तथा उनके लिए काया साधना का असाधारण महत्व है। यहाँ कारण है कि विद्यापति ने पूर्ण भक्त होते हुए भी पदावली में इस प्रकार की रचना की। ऐसे पदों के सृजन से इस सम्प्रदाय के कवियों के रचना-शिल्प एवं व्यक्तित्व पर किसी भी प्रकार की कोई आंच सामान्यतः नहीं ही आनी चाहिए। चन्डीदास यदि स्वयं रामा धोबिन से कहते थे कि 'हे देवी तुम मेरे लिए रहस्योद्घाटिनी हो, तुम मुझ शिव के लिए शक्ति के समान हो। तुम्हारा शरीर राधा का शरीर है।' तो क्या इन भावनाओं को मात्र कामवासना प्रधान ही कहा जायगा? और विद्यापति ने यदि इस धारा की भक्ति में आकंठ निमग्न होकर नायिका के पथ में काव्य के गुलाब बिछाये तो क्या उनमें विशुद्ध कामवासना ही कार्य कर रही थी? बस सोचने में हम, यहीं गलती कर बैठते हैं और विद्यापति की शृंगारिक रचनाओं को लेकर यह ऊहापोह खड़ा करने लगते हैं कि वे घोर शृंगारिक कवि थे। वास्तव में विद्यापति जिस सगुण सहजिया सम्प्रदाय के थे उसकी भक्ति सम्बन्धी अभिव्यक्ति का माध्यम ही शृंगार था और यही कारण था कि विद्यापति ने अपने वर्ण्य विषयों में शृंगार के उत्तान चित्रों के माध्यम से लौकिक रति को अलौकिकत्व प्रदान करने के लिए ही यह माध्यम अपनाया। आलोचक प्रायः उनके काव्य की ऊपरी टालमटोल करके ही उन्हें घोर शृंगारिक का खिताब दे देते हैं। कवि के जीवन-दर्शन और उसकी मूल परिस्थितियों के अन्तराल तक जाने का स्वल्प प्रयास भी नहीं करते। इसलिए आलोचकों से हमारा विनम्र निवेदन है कि वे अनाविल दृष्टि जुटाकर एक बार फिर इस प्रतिभा सम्पन्न कवि के काव्य का अध्ययन करें। उसके काव्य का सम्यक् परिशीलन, यदि विद्यापति के राधा-कृष्ण सम्बन्धी प्रेमलीला विषयक दृष्टिकोण को समझ वैष्णव सगुण सहजयान के परिप्रेक्ष्य में हो, तो कवि के सम्बन्ध में स्थापित घोर शृंगारिक धारणा का सहज निराकरण हो सकेगा। भागवत परम्परा राधा से सम्बन्धित नहीं हो सकती। अतः विद्यापति के राधा-कृष्ण विषयक दृष्टिकोण के लिए हमें गीत गोविंद की परंपरा का ही आश्रय लेना पड़ेगा और इस परंपरा का सीधा सम्बन्ध भी वैष्णव सगुण सहजयान से ही था। वैष्णव सगुण सहजयान धारा के भक्त कवि होने से उनके द्वारा बर्णित शृंगार में सीमा, संकोच तथा मर्यादा जन्य वह पवित्रता (हमारे दृष्टिकोण से) नहीं रह गई जो हमें सूर के काव्य में देखने को मिलती है। यद्यपि उसकी पवित्रता में विद्यापति की ओर से आंशिक कमी भी नहीं थी परन्तु जीवन के व्यावहारिक पक्ष, एवं नैतिक मान्यता को आधार बनाकर जब हम उनके काव्य का मूल्यांकन करेंगे तो हमें उनका काव्य केवल उत्तान शृंगारिक ही शृंगारिक दिखाई पड़ेगा और उनका व्यक्तित्व केवल शृंगारिक बन कर ही रह जायगा। वस्तुतः उनके सम्प्रदाय के भक्ति जन्य सिद्धान्तों को आधार बनाकर हम उनके काव्य का अध्ययन करें, तो हमें स्पष्ट होगा कि उनके भक्ति सिद्धान्तों की तह में उनका सारा शृंगार मूर्च्छित पड़ा है।

उक्त समस्त विवेचन के आधार पर यह निर्णय निकला कि वैष्णव सगुण सहजयानी भक्त होने से सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के आधार पर ही (जिन्हें हमने ऊपर स्पष्ट किया है) उन्हें अपनी पदावली की रचना करनी पड़ी। इसलिए महासुख के कामी भक्त कवि विद्यापति ने यदि अपनी शक्ति रूपी नायिका के पथ में गुलाब ही गुलाब बिछाए, सघःस्नाता को लुक छिप कर देखा, बिना कांटों के फूल खिलाए, राधा को

रात भर तड़पाया, उसके नेत्रों में संपूर्ण रात्रि को ही समा जाने दिया, अभिसार कराए, रति प्रवीणा बनाने के लिए दूती शिक्षा दिलवाई, सौंदर्य में आकंठ निमग्न होकर काव्य लिखा, संयोग शृंगार के मार्मिक चित्र उरेहे, संयोग में डूब डूब कर गाया और गा गा कर डूबे तथा विलास की मामग्री प्रस्तुत की, तो उनका क्या दोष था ? भले ही आलोचक उनके अंतर्जगत के वर्णन को हृदयग्राही न कहे, पर उनकी वर्णन विदग्धता तो निश्चिंत है।

राज दरबार से प्रभावित एवं राज्याश्रित होने के कारण भी उन्होंने अपने आश्रयदाता के लिए शृंगार लिखा और राधा-कृष्ण के संयोग के खुल कर वर्णन किए। केवल अभिव्यक्ति के ऊपरी मूल्यांकन से व्यक्तित्व का इतना सस्ता निबटारा कैसे किया जा सकता है ? आज के प्रगतिवादी कवि भले महलों में बैठकर भौपड़ी की कल्पना में साहित्य रचना करें और उनके व्यक्तित्व पर फिर भी कोई लांछन न हो। आज के प्रयोगवादी कवि अति यथार्थ को काव्य का विषय बनाकर सरेलज्जम में अत्यन्त भद्दे और नंगे वर्णन करें और फिर भी श्रेष्ठ कवियों के खिताब पाये। समाज में विकृत ग्रह और काम विकृति "परवर्टेड सेक्स" के दूषित वर्णन को काव्य का जामा पहनायें और उस पर मनोविज्ञान सम्मत होने की दुहाई दें, तो वे साहित्यकार क्षम्य हैं। आज का ६० प्रतिशत साहित्य अपनी हर विद्या में समाज के सामने विकट सेक्स के अनेक नगे व खुले चित्र उतारे और उसे सरकार विविध उपाधियों तथा पुरस्कारों से सम्मानित करे, यह कैसे विप्रतिपत्ति है। पर यह सब आज क्षम्य है क्योंकि उनके पास सृजन का लाइसेंस है और विद्वान आलोचक उसे यथार्थ और जीवन का वास्तविक चित्रण कहकर पचा रहे हैं। यदि मानसिक कुंठाओं और ग्रंथियों से पीड़ित साहित्य का भी जब सत्साहित्य के नाम पर स्वागत हो रहा है तब आलोचना के सभी प्राचीन मानदण्ड उनके लिए किस खेत की मूली है। उनका चिन्तन, कान्टेंट, फार्म, अनुभूति, और सौंदर्यबोध उनका अपना एवं मौलिक है। उन्हें पुराना लिखा सब बेहद कुरूप और 'आउट डेटेड' लगता है तो क्या कीजिएगा ? यों भी उन्हें आप कुछ भी कह लीजिए। अपने व्यक्तित्व निर्माण का भी उन्हें कोई डर नहीं। कालान्तर में उनका मूल्यांकन कैसा भी हो, उसकी उन्हें क्या भीति ? आज का साहित्यकार तो आंख खोलकर जो देख रहा है उसे पचाता चला जा रहा है, उगलता चला जा रहा है। और यह सब हमें सहज स्वीकार्य है। यों भी साहित्य देवता का पेट तो समुद्र है उसमें सीपी सेवार के साथ मुक्ता रत्न भी तो पड़े रहते हैं। बस आलोचना की तेजधार वाली तलवार तो प्राचीन कवियों के "आउट डेटेड" कान्टेंट और फार्म के लिए है।

इस प्रकार हम एक बार फिर अपनी इस बात को दुहराना चाहेंगे कि प्रत्येक कवि को समझने के लिए हमें उसके समय, जीवन दर्शन और मूलभूत परिस्थितियों की ओर से आंख नहीं मूंद लेनी चाहिए। उनका उसके कर्तृत्व पर गहरा प्रभाव पड़ता है। विद्यापति भक्त कवि थे और वैष्णव सगुण सहजिया भक्त थे और उनकी साधना शृंगारमयी थी।

एक बात और कहना चाहते हैं कि हमारे भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों के मूल ग्रन्थ क्या एक स्वर से यह कहते हैं कि ब्रह्म को प्राप्त करने का केवल एक ही साधनात्मक रास्ता है ? और यदि ऐसा है तो फिर कबीर ने स्वयं को "राम की बटुरिया" सूर ने कृष्ण का सखा, तुलसी ने राम का दास और मीरा ने कृष्ण को पति कहकर साधना क्यों की ? आधुनिक रहस्यवादी उसे अव्यक्त ब्रह्म बनाकर प्राप्त करना चाहते हैं। तो फिर विद्यापति को क्या यह अधिकार नहीं था कि वे इस साधना को शृंगार के

माध्यम से व्यक्त कर अपने साध्य को प्राप्त करें। उन्हें घोर शृंगारिक कहना क्या इस भक्त साधक का घोर अपमान करना नहीं होगा? क्या ऐसा कहकर हम उसके व्यक्तित्व, जीवन दर्शन और मूल परिस्थितियों के लिए अपनी भारी अज्ञता प्रदर्शित नहीं करेंगे? उत्तर पाठक के विचारों पर ही छोड़ रहे हैं। यों हम आंख मूंद कर विद्यापति को कैसे शृंगारिक, मात्र काम और विलास की सामग्री प्रस्तुत करने वाला कह दें? यह बात दूसरी है कि जनता पर उनके काव्य का क्या प्रभाव पड़ा और अध्येताओं पर क्या? पर यह स्पष्ट है, उनके सम्प्रदाय ने उनके सृजन को कभी भी अश्लील करार नहीं दिया, अन्यथा चैतन्य की उनके पदों को परम तन्मयता से गा गाकर मूर्छित हो जाने वाली बात केवल मजाक बनकर रह जाती।

विद्यापति को घोर शृंगारिक सिद्ध करने में आलोचकों द्वारा कही इस अन्तिम बात को हम विज्ञ पाठकों के समक्ष रखकर प्रस्तुत विश्लेषण का समापन करना चाहेंगे। आलोचकों ने यह लिखा है कि विद्यापति ने अपने रचना काल में जितने भी शृंगारिक वर्णन लिखे उसका उन्हें अन्तिम समय में भारी दुःख हुआ। जिसे उन्होंने भगवान शंकर पर रची नचारियों में स्पष्ट किया—

जावत जनम नहि तुअ पद सेविनु जुवती मनिय मेलि
अमृत तजि किए हलाहल पीयल सम्पद आपदिहि भेलि

और अन्त में उन्हें बड़ी ग्लानि हुई—

सांभ क बेरि सेवकाइ मंगइत हेरइत तुव पद लाजे

और

कखन हरब दुख मोर है भोलानाथ

उक्त पदों द्वारा कवि विद्यापति ने भगवान् शंकर को सम्बोधित कर अपनी लघुता स्पष्ट की है और कुछ पश्चाताप किया है, यह स्पष्ट होता है, पर इससे तो उनके भक्त के व्यक्तित्व को और असाधारण बल मिलता है।

प्रमाण के लिए, एक सशक्त उदाहरण लें; रामचरित मानस के रचयिता तुलसीदास जैसे महात् कवि का सृजन देखिये। पूर्ण मर्यादा संपृक्त एवं शृंगार की उत्तानता से एकदम असंपृक्त। रामचरित मानस साहित्य का रस सिद्ध काव्य है। तो फिर तुलसी की 'विनय पत्रिका' क्या है? दीनता, लघुता, मान मर्षता, भय, पश्चाताप, आत्मग्लानि और मनोराज्य से सने भावों का सुन्दर गीतकाव्य। पर उसको लिखने की उन्हें क्या आवश्यकता पड़ी थी? उन्होंने विद्यापति की भांति कहीं भी घोर शृंगार नहीं लिखा फिर काम का और वासनाओं का उन्हें क्या भय था? अपने उत्तम कर्मों को उन्होंने बुरा कहा। उन्हें स्वयं पर बड़ी आत्मग्लानि हुई और उन्होंने इस सारी आत्मवेदना को 'विनय पत्रिका' में उभारा तो इससे उनका भक्त मर कहा गया? इससे तो उन्हें और अधिक भक्त के रूप में वैशिष्ट्य प्राप्त हुआ है। अतः यदि इसे भक्त की विशालता और आराध्य के समक्ष स्वयं को छोटा मानने तथा उसके समक्ष अपने अपराधों को रखकर क्षमा याचना करने का बड़प्पन कहा जाय तो कौनसी असंगति है?

एक बात विद्यापति के लिए और कही जा सकती है कि वे वैष्णव नहीं, शैव या शिव भक्त थे क्योंकि उन्होंने नचारियों में शिव पर पद लिखे हैं, पर शिव के साथ गंगा पर भी तो पद लिखे हैं और उनके लिए

तो किंवदन्ति भी है कि अपने अंतिम समय में जब वे बीमार पड़े तो कहीं आ जा नहीं सकते थे। दुखी होकर उस भक्त कवि ने गंगाजी की प्रार्थना की कि वे उनके अन्तिम समय में स्वयं चलकर एक अमृतमय स्पर्श दे दें; तो कहते हैं, भगवती-भागीरथी ने स्वयं कवि के द्वार पर जाकर लहरों का पावन स्पर्श इस भक्त को देकर उसका कल्याण कर दिया। इस दृष्टि से उन्हें शिव भक्त या शैव न कह कर गंगा का भक्त क्यों न कहा जाय ?

यों तुलसीदास जी ने अपनी कृतियों में अनेक देवताओं की स्तुति उपासना की है तो वे शैव, शाक्त, वैष्णव आदि सभी एक साथ क्यों नहीं हो गये ? कहीं ऐसा करने से भक्त का संप्रदाय और उपास्य बदल सकता है ? ऐसा कहना केवल एक खींचातानी मात्र होगी। वस्तुतः वे तुलसी की ही भांति अपने संप्रदाय के महान कवि थे।

इसके अतिरिक्त महाकवि तुलसीदास का महासुख प्राप्त करने का माध्यम शृंगारिक नहीं था, वह सबका मन भावन था। जबकि हमारे आलोच्य कृति विद्यापति का माध्यम तो केवल मात्र शक्ति व शिव या राधाकृष्ण के हास-विलास, रति व अन्य लीलाओं का वर्णन आनन्द ही था। यही मार्ग उन्हें उचित जान पड़ा और परम्परा से यह मार्ग स्वीकार करने के लिए उन्हें बाध्य होना ही पड़ा। अन्यथा विद्यापति जैसा रस सिद्ध और प्रबुद्ध कवि क्या स्वयं अपने युग में इतना भी नहीं सोच सकता था कि आने वाली पीढ़ियां उसको अपनी इन कृतियों पर क्या उपाधियाँ देगी और उसके पदों के क्या २ अर्थ लगाये जायेंगे। जान बूझकर कोई कवि अपने रचना विषयों को किस प्रकार अश्लीलत्व की आग में भोंक सकता है ? वस्तुतः वे स्वयं अपने वर्ण्य विषय को औचित्य की सीमाओं में प्रतिष्ठित और श्रेष्ठ मानते थे।

ये सभी बातें विद्यापति की पदावली को ही लेकर उठीं और संभवतः विद्वानों ने अपना निर्णय भी उनके पदों पर ही दिया है, पर हम आलोचकों के सामने विनम्रता से इस बात को भी रखने का प्रयत्न करना चाहते हैं कि अभी विद्यापति के पदों का वैज्ञानिक और प्रामाणिक पाठ ही कहां उपलब्ध होता है ? इस ओर पाठ विज्ञान के संघाताओं को विशेष गंभीरता से सोचना चाहिये। नहीं तो विद्यापति के अप्रामाणिक, असम्पादित पदों से और भी न जाने कितनी भ्रान्तियां फैलाई जा सकती हैं।

विद्यापति का विशुद्ध भक्त के रूप में व्यक्तित्व प्रस्तुत करने की एक दृष्टि हमने प्रस्तुत की है। हमने अपनी बात कही है, इससे विद्वान असहमत भी हो सकते हैं, पर अध्ययन को अपनी दिशा और चिंतन में किसी मौलिक पहलू को लेकर अपनी बात कहने का हक तो सभी को है। पाठक यही समझ, इसे पढ़ें तो हम अपना श्रम कृत कार्य समझेंगे।